से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है; इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एवं गुरु के वध से बनने वाले पाप की आशंका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसंगत नहीं, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यंगपूर्वक **महाबाहु** सम्बोधित किया, क्योंकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है, वे स्वीकार नहीं करते। अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए वैदिक संस्कृति का अनुयायी है। अतएव वैदिक सिद्धांतों का अनुसरण करते रहना ही उसके लिए योग्य होगा।

6.2

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

जातस्य=जन्मने वाले की; **हि**=क्योंकि; **ध्रुवः**=निश्चित है; **मृत्युः**=मृत्यु; **ध्रुवम्**=निश्चित है; **जन्म**=जन्म; **मृतस्य**=मरने वाले का; **च**=तथा; **तस्मात्**=अतः; **अपरिहार्ये**=उपायरहित; **अर्थे**=विषय में; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **शोचितुम्**=शोक करने; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुर्नजन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधर्म-पालन में तू शोक करने के योग्य नहीं है।।२७।।

तात्पर्य

जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु की नित्यता का यह अर्थ नहीं कि अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध आदि हिंसा-कर्म किए जायें। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिंसा और युद्ध करना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अतः स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यों हो? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जायगा, जिसकी आशंकामात्र से उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगाः अपितु विकर्म-दोष से अधःपतन को ही प्राप्त होगा।

6.2

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।।२८।।